स्वर्गीय श्री बलीराम जी तनेजा

तृतीय संस्करण के सम्बन्ध में

१. इस संस्करण में श्रद्धेय आनन्द स्वामी जी महाराज की भूमिका नई छापी जा रही है।

२. इस लघु पुस्तक को स्वर्गीय दीवान बहादुर लाला वली राम तनेजा धनवाद के द्वारा ट्रस्ट को प्रदान किये गये विशेष धन से प्रकाशित किया था। आगे भी ट्रस्ट की व्यवस्था से यह पुस्तक व अन्यपुस्तक छपती रहेगी। इस विभाग का धन इसी काम में लगता रहेगा।

३. उक्त लाला जी ने इन पङ्क्तियों के लेखक को ३६००) रु० दिया था और अपना नाम प्रकाशित करने से मना कर दिया था। यह रुपया ट्रस्ट में जमा कर दिया गया था

अब उन के परिवार के सदस्यों, उन की धर्मपत्नी धर्म शीला प्रेमवती जी तथा सुपुत्र प्रिय विजय कुमार तथा आनन्द कुमार तथा पुत्रियों की इच्छानुसार इस बार उन का नाम तथा चित्र भी दिया जा रहा है।

यह पुस्तक अभी तक ७५०० छप कर समाप्त हो चुकी है तीसरे संस्करण में ५००० छाप रहे हैं।

निवेदक:—

फाल्गुन पूर्णिमा — ब्रह्मदत्त जिज्ञासु

२१ मार्च १९६२ — प्रधान श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट अमृतसर

उपासना-योग

(ले०—श्री महा० आनन्दस्वामीजी महाराज, तपोवन देहरादून)

उपासना-योग एक ऐसा सरल, सीधा, सुन्दर साधन है, जिस के द्वारा मानव भव से पार हो सकता है और साथ ही परम-आनन्द को भी प्राप्त कर सकता है। उपासना का प्रयोजन क्या है ?—ईश्वर के सुन्दर दिव्य स्वरूप में मग्न हो जाना और उसी प्रभु की आज्ञापालन को अपना परम कर्तव्य समझना।

महर्षि दयानन्द ने अपने सुन्दर जीवन का बहुमूल्य समय योग के साधनों और उपसाधनों को क्रियारूप में लाने ही के लिये व्यतीत किया। नर्वदा नदी के तट पर रहने वाले हर प्रकार के योगियों की कुटियाओं में पर्याप्त समय लगाया, जब वहाँ से पूरी तृप्ति नहीं हुई तो हिमालय की कन्दराओं तथा उत्तरा-खण्ड में रहने वाले योगियां की खोज में निकल पड़े, और निरन्तर २७ वर्ष सच्चे शिवदर्शन के लिये प्रयत्नशील रहे।

सम्वत् १८९४ की शिवरात्री को मूलशंकर के कोमल हृदय में सच्चे शिव के दर्शन पाने की अग्नि प्रज्वलित हो उठी, जब घर में प्रेमी मूलशंकर को प्रियतम से मिलाप करने की युक्ति न मिली, तब दस वर्ष की प्रतीक्षा के पश्चात् मूलशङ्कर सम्वत् १९०३ में घर से निकल पड़ा और योगियों के द्वार खटखटाने लगा, हठ योग की कठिन क्रियायें भी करता रहा।

जब इस विधि से भी मिलाप नहीं हुआ तो संन्यास धारण करके अलख जगाई और शरीर पर राख पोत कर अवधूत वृत्ति में प्रियतम की खोज प्रारम्भ कर दी। अब आप स्वामी दयानन्द सरस्वती बन चुके थे, हर प्रकार के योग की विधियाँ और क्रियायें सीखीं, और अन्त में ध्यानयोग अथवा उपासना योग द्वारा अपने ही मनमन्दिर में बैठे दिव्य भगवान् को पाकर कृतकृत्य हो गये। तब विचार हुआ कि सच्चे शिव का पता भटकती दुनियां को भी देना चाहिये, तब प्रचार कार्य में जुट गये, परन्तु क्या देखा कि जनता उनकी बात सुनती नहीं।

सम्वत् १९२४ के हरिद्वार कुम्भ की बात है, व्याख्यान देते देते स्वामी दयानन्द के नेत्र जलपूर्ण हो गये, कंठ से आर्तनाद निकल पड़ा, और "सर्वं वै पूर्णं स्वाहा" कह कर अपने सारे वस्त्र, पुस्तक, पैसे वहीं बाँट दिये। अपने पास रख ली केवल एक कौपीन और चल पड़े ऋषिकेश की ओर। "अभी तपस्या में कुछ कमी है, अभी आत्म-दर्शन की अवस्था परिपक्व नहीं हुई, अभी प्रभु कृपा पूरी प्राप्त नहीं हुई"। सात वर्ष गङ्गा ही के तट पर निरन्तर भ्रमण करते और योगाभ्यास द्वारा अधिक आत्मिक बल प्राप्त करते रहे। इस प्रकार २७ वर्ष व्यतीत किये, और जब योग के साधनों के द्वारा बुद्धि प्रतिभा और ऋतम्भरा के स्तर पर पहुंच गई, तब केवल नौ ही वर्षों के अन्दर दुनियाँ को ऐसा झटका दिया कि गहरी निद्रा में सोने वाले भी जाग उठे। प्रभु की पवित्र वाणी वेद फिर सामने आ गयी। सच्चा योगी दयानन्द अकेला ही नौ वर्षों में जो अद्भुत कार्य कर गया, वह पिछले ७५ वर्षों में

सहस्रों महानुभाव भी न कर पाये, क्योंकि योग का पावर हाउस पास नहीं था। कोरे व्याख्यान, कोरा शब्दाडम्बर, कोरी राजनीति, थोड़े समय के लिये शायद सफल हो जाये, परन्तु पूर्ण सफलता योग ही से मिल सकती है।

योग वह वैज्ञानिक क्रिया है जिस के द्वारा प्रकृति तथा परमात्मा का ज्ञान प्राप्त हो जाता है, इसीलिये महर्षि ने योगविद्या सीखने का विधान सब के लिये किया है, और तो और दुनियादारी तथा राजनीति के लिये भी इसे आवश्यक बतलाया है। महर्षि दयानन्द सत्यार्थप्रकाश के छठे समुल्लास में लिखते हैं कि—"राजा और राजसभा के सभासद् तब हो सकते हैं कि जब वे चारों वेदों की कर्मोपासना ज्ञान विद्याओं के जानने वालों से तीनों विद्या, सनातन दण्डनीति, न्याय विद्या, आत्मविद्या—अर्थात् परमात्मा के गुण, कर्म, स्वभाव रूप को यथावत् जानने रूप ब्रह्म विद्या और लोक से वार्ताओं का आरम्भ (कहना और पूछना) सीखकर सभासद् वा सभापति हो सकें। सब सभासद् और सभापति इन्द्रियों को जीतने अर्थात् अपने वश में रख के सदा धर्म में वर्तें और अधर्म से हटे हटाए रहें। इसलिये रात दिन नियत समय में योगाभ्यास भी करते रहें, क्योंकि जो जितेन्द्रिय कि अपनी इन्द्रियों (जो मन, प्राण और शरीर प्रजा है इस) को जीते बिना बाहर की प्रजा को अपने वश में स्थापन करने को समर्थ कभी नहीं हो सकता।"

योगाभ्यास एक जीवन-क्रम है, जिस को प्रयोग में लाकर मानव प्रकृति तथा परमात्मा दोनों की वास्तविकता

को भली भान्ति साक्षात् देख सकता है। पश्चिमी देशों वाले आज कल प्रकृति की खोज में लगे हुए ध्यानावस्थित होकर नाना प्रकार के आविष्कार कर रहे हैं और शारीरिक सुख के कितने ही साधन जुटा रहे हैं, हमारे पूर्वजों ने भी इस खोज में पर्याप्त समय लगाया। इतिहास बतलाता है कि हमारे पूर्वज वायुयान, बेतार के तार, अग्नि शस्त्र अस्त्र इत्यादि के स्वामी थे, परन्तु उन्होंने अन्त में देख लिया होगा कि इस भौतिक खोज में न मानसिक शान्ति है न आत्मतृप्ति। तब वह उसकी खोज में निकले, जिस के पास पहुंच कर शाश्वत शान्ति और आत्मतुष्टि मिलती है, और जिस मार्ग पर चलकर उन्होंने यह रत्न पाये, जिस साधना द्वारा वह परम आनन्द पाने में सफल हुए, उसका नाम योगाभ्यास है, उसी को 'उपासना योग' या 'भक्तियोग' कहते हैं।

योग के सम्बन्ध में कितनी ही उपनिषदों में, कितने ही पुराणों में और कितने ही अन्य ग्रन्थों में वर्णन आता है, परन्तु दो पुस्तकों में तो केवल योग ही की बात है, हठयोग की क्रियाओं को बतलाने वाली "हठयोग प्रदीपिका" है और राज-योग अथवा उपासना-योग का निरूपण करने वाला ग्रन्थ "योग दर्शन" है। इसी का नाम अष्टांग योग है, क्योंकि इसमें साधक को आठ मञ्ज़िलों में से गुज़रना होता है—(१) यम (२) नियम (३) आसन (४) प्राणायाम (५) प्रत्याहार (६) धारणा (७) ध्यान और (८) समाधि।

महर्षि दयानन्द ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में इसी योग दर्शन के आदेशानुसार प्रभु-दर्शन पाने का विधान किया

है। वैसे योग शब्द के अन्दर तीन प्रकार का योग आता है:—

उपासना योग, कर्मयोग और ज्ञानयोग। विना ज्ञान के शुभ अथवा अशुभ कर्म का विवेक होना कठिन है और विना शुभकर्म के उपासना में चित्त का टिकना कठिन है, अतएव जब उपासना योग की बात कही जाती है तो सम्यक् ज्ञान और निष्काम शुभ कर्म की बात साथ ही आ जाती है।

योग दर्शन चार भागों या पादों में विभक्त है। पहिला समाधिपाद है, जिसमें समाहित चित्त वाले उत्तम अधिकारियों के लिये उपयोगी योग की क्रियायें लिखी हैं। दूसरा साधनपाद है जिसमें पूरे अष्टांग-योग का वर्णन है और सर्व साधारण के लिए क्रियात्मक साधन बतला दिये गये हैं। तीसरा विभूतिपाद है जिस में नाना प्रकार के संयम करने से नाना प्रकार की उनंचास (४९) सिद्धियां प्राप्त की जा सकती हैं। और चौथा कैवल्य पाद है जिसमें आत्मा तथा चित्त के भेद का साक्षात्कार करने की बात बतला कर स्वरूप स्थिति या मुक्ति का आनन्द पाने का साधन बतलाया है। यह सारा दर्शन पूरा वैज्ञानिक शास्त्र है, यह कोरी युक्तियों का ग्रन्थ नहीं, अपितु पूर्ण रूप से क्रियात्मक विज्ञान (Practical Science) से भरपूर है, परन्तु इस से लाभ वही उठा सकते हैं, जो इस ग्रन्थ के कर्ता ऋषि पतंजलि मुनि के अनुभवों पर आचरण करेंगे। केवल पढ़ लेने या इसके १९५ सूत्र रट लेने से योगविद्या का यथार्थ और पूरा लाभ नहीं हो सकता।

कुछ लोग योगदर्शन के विभूति पाद की बातों पर शङ्का करते हैं जिसमें सिद्धियों का वर्णन है, परन्तु महर्षि दयानन्द ने तो इन सिद्धियों से कभी इनकार नहीं किया, अपितु उनकी पुष्टि की है, और यजुर्वेद भाष्य के कितने ही स्थलों पर स्पष्ट शब्दों में सिद्धियों की बात लिखी है। विभूति पाद के १३—१४—१५ तथा १६वें सूत्र में यह बतलाया है कि इन्द्रियों और पंच भूतों और तीन गुणों में जो परिमाण होते हैं, उनमें संयम करने से भूत भविष्यत् का ज्ञान हो जाता है. और महर्षि दयानन्द ने यजुर्वेद भाष्य में चौतीसवें अध्याय के चौथे मन्त्र—येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्……का भावार्थ यह लिखा है:—

"हे मनुष्यो! जो चित्त योगाभ्यास के साधन और उपसाधनों से सिद्ध हुआ भूत, भविष्यत्, वर्तमान तीनों काल का ज्ञाता सब सृष्टि का जानने वाला कर्म उपासना और ज्ञान का साधक है उसको सदा ही कल्याण में प्रिय करो।"

शिव संकल्प के इसी मन्त्र का अर्थ महर्षि ने सत्यार्थ-प्रकाश के सातवें समुल्लास में यह लिखा है:—

"हे जगदीश्वर! जिस (मन) से सब योगी लोग इन सब भूत, भविष्यत्, वर्तमान व्यवहारों को जानते, जो नाशरहित जीवात्मा को परमात्मा के साथ मिल के सब प्रकार त्रिकालज्ञ करता है, जिसमें ज्ञान और क्रिया है, पांच ज्ञानेन्द्रिय बुद्धि और आत्मा युक्त रहता है, उस योगरूप यज्ञ को जिससे बढ़ाते हैं वह मेरा मन योग विज्ञानयुक्त होकर अविद्यादि क्लेशों से पृथक् रहे।"

इन अर्थों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि संयम (धारणा ध्यान समाधि) द्वारा योगी तीनों कालों का जानने वाला हो सकता है। शंका हो सकती है कि त्रिकालज्ञ तो परमात्मा है जीव कैसे हो सकता है? उत्तर यह है कि परमात्मा सर्वज्ञ है, इस लिये उस का ज्ञान भी सर्वज्ञ है, परन्तु जीव तो अल्पज्ञ है इस लिए उसकी त्रिकालज्ञता भी अल्पज्ञता के बन्धन में ही बंधी रहेगी, इसलिये योगी के त्रिकालज्ञ होने में कोई आपत्ति नहीं आ सकती, और न ही योग की सिद्धि में कोई बाधा पड़ती है, और महर्षि दयानन्द ने भी इसीलिये इसका समर्थन किया।

इसी प्रकार से दूसरो सिद्धियों को भी महर्षि ने माना है, यजुर्वेद भाष्य ही में महाराज लिखते हैं:—

"योग जिज्ञासु पुरुष को चाहिये कि यम-नियम आदि योग के अङ्गों से चित्त आदि अंतःकरण की वृतियों को रोक और अविद्यादि दोषों का निवारण करके संयम से ऋद्धि सिद्धियों को सिद्ध करें।

(अध्याय सात मंत्र ४ का भावार्थ)

—यजुर्वेद सप्तदश अध्याय के ६७वें मन्त्र—

प्रथिव्या अहमुदन्तरिक्षमा रुहम्............

अर्थ—महर्षि यह लिखते हैं कि—

हे मनुष्यो जैसे किए हुए योग के अङ्गों के अनुष्ठान संयम सिद्ध अर्थात् धारणा ध्यान और समाधि में परिपूर्ण, मैं पृथिवी के बीच आकाश को उठ जाऊं वा आकाश से प्रकाशमान सूर्यलोक को चढ़ जाऊं वा सुख करानेहारे प्रकाशमान उस सूर्यलोक के समीप

से अत्यन्त सुख और ज्ञान के प्रकाश को मैं प्राप्त होऊँ, वैसा तुम भी आचरण करो।"

और इसका भावार्थ महर्षि ने यह लिखा है—

"जब मनुष्य अपने आत्मा के साथ परमात्मा के योग को प्राप्त होता है तब अणिमादि सिद्धि उत्पन्न होती है, उसके पीछे कहीं से न रुकने वाली गति से अभीष्ट स्थानों को जा सकता है, अन्यथा नहीं।"

इस प्रकार इससे अगले मंत्र "स्वर्यन्तो नापेक्षन्त" का अर्थ इस प्रकार महर्षि करते हैं—

"जो अच्छे पण्डित योगी जन योगाभ्यास के पूर्ण नियम करते हुओं के समान अत्यन्त सुख की अपेक्षा करते है, वा आकाश और पृथिवी को चढ़ जाते अर्थात् लोकान्तरों में इच्छापूर्वक चले जाते वा प्रकाशमय योगविद्या और सब ओर ये सुशिक्षायुक्त वाणी है, जिसमें प्राप्त करने योग्य उस यज्ञादि कर्म का विस्तार करते हैं, वे अविनाशी सुख को प्राप्त होते हैं।"

यह विभूतिपाद की सिद्धियों ही का समर्थन है, यही नहीं अपितु परकाया-प्रवेश की बात भी यजुर्वेदभाष्य में लिखी है। महाराज यजु० अ० १७ मंत्र ७१ के भावार्थ में लिखते हैं:—

"जो योगी पुरुष तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान आदि योग के साधनों से योग (धारणा, ध्यान समाधि रूप संयम) के बल को प्राप्त हो और अनेक प्राणियों के शरीरों में प्रवेश करके अनेक शिर नेत्र आदि अङ्गों से देखने आदि कार्यों को कर सकता है, अनेक पदार्थों

वा धनों का स्वामी भी हो सकता है, उसका हम लोगों को अवश्य सेवन करना चाहिए।"

यह परकाया-प्रवेश मानसिक है या सूक्ष्म शरीर द्वारा यह बात यहां स्पष्ट नहीं, परन्तु यह तो स्पष्ट है कि योगी योगबल द्वारा दूसरों से अपनी इच्छानुसार कार्य करा सकता है॥

ऋग्वेद के तीसरे मण्डल, सूक्त ५५ मं० ९ का भाष्य करते हुए महर्षि लिखते हैं—"हे मनुष्यो! वह परमेश्वर योगी जनों को वायु के द्वारा दूत के समान दूर के समाचार तथा पदार्थों को भी जना देता है"। यहाँ भी योग-सिद्धि का वर्णन है, और 'श्रीमद्दयानन्द-प्रकाश' में महाराज के जीवन की एक घटना यह लिखी है—

एक भक्त ने स्वामी जी से निवेदन किया—महाराज! पातञ्जल शास्त्र का विभूतिपाद क्या सच है? महाराज ने उत्तर दिया—"आप व्यर्थ ही सन्देह करते हैं, योगशास्त्र तो अक्षरशः सत्य है। दूसरी विद्याओं में उत्तीर्ण होने के लिये आप लोग कई वर्ष व्यय कर देते हैं। किन्तु इसके लिए यदि आप तीन मास भी मेरे पास निवास करें, और मेरे कथनानुकूल योगक्रियाएं साधें तो आप योग शास्त्र की सिद्धियों का स्वयं साक्षात् कर लेंगे।"

इतने उदाहरणों द्वारा ही सिद्ध हो जाता है कि महर्षि दयानन्द विभूतिपाद की सिद्धियों को वेदानुकूल ही समझते तथा मानते थे। योगाभ्यास में तो उनकी अटूट श्रद्धा थी,

वह स्वयं पूर्ण योगी थे और योग को लौकिक तथा पारलौकिक सफलता का एक मात्र साधन समझते थे। यजुर्वेद अध्याय सात के मंत्र २८ का भावार्थ महर्षि ने यह लिखा है—

"योग विद्या के बिना कोई भी मनुष्य पूर्ण विद्यावान् नहीं हो सकता और न पूर्ण विद्या के बिना अपने स्वरूप और परमात्मा का ज्ञान कभी होता है और न इसके बिना कोई न्यायाधीश सत्पुरुषों के समान प्रजा की रक्षा कर सकता है। इसलिये सब मनुष्यों को उचित है कि इस योग-विद्या का सेवन निरन्तर किया करें।"

ऋग्वेद १—४८—४ के भाष्य में महर्षि लिखते हैं—

'जो मनुष्य एकान्त, पवित्र तथा निरुपद्रव देश में भली प्रकार बैठ कर यम से लेकर संयम पर्यन्त नौ उपासनाङ्गों—योगाङ्गों का अभ्यास करते हैं, वे निर्मलात्मा हो कर प्राज्ञ, आप्त और सिद्ध बन जाते हैं। और जो इन सिद्ध योगी जनों का संग तथा सेवा करते हैं, वे भी शुद्ध अन्तःकरण हो कर आत्मयोग के जिज्ञासु बन जाते हैं।"

'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' में इस लिये महर्षि ने एक पृथक् तथा विशेष अध्याय इसी के सम्बन्ध में लिखने की आवश्यकता समझी, जिसका नाम महाराज ने "अथोपासना-विषयः" रखा और प्रारम्भ में ऋग्वेद तथा यजुर्वेद के मंत्र दे कर बतलाया कि वेदों में ईश्वर—उपासना का क्या ढंग लिखा है और सब से पहली ज़रूरी बात उपासना के लिये यही बतलाई है कि मन को परमेश्वर में जोड़ना चाहिये, और योग दर्शन का मुख्य उद्देश्य भी यही है कि चित्त की बिखरी हुई वृत्तियों को एकत्र करके उन्हें निरुद्ध करना और

फिर आत्म-दर्शन पा लेना। और वह दर्शन एक बृहद् ज्योति के रूप में होते हैं।

योग दर्शन में चित्तवृत्तियों को निरुद्ध करने के कितने ही उपाय बतलाये गये हैं और अन्त में सबसे प्रबल उपाय बतलाया है—

ईश्वरप्रणिधानाद्वा

"ईश्वर की भक्तिविशेष से समाधि की सिद्धि हो जाती है।" यही उपासना–योग है, जिसका उल्लेख महर्षि ने किया है। "ईश्वरप्रणिधान" सारे योग दर्शन में बड़ा महत्त्व रखता है। इसी लिये इसका वर्णन "नियमों" में, "क्रिया योग" में और "समाधि-पाद" में भी आया है। ईश्वरप्रणिधान के सामान्य अर्थ तो यही हैं कि परमात्मा के प्रति अनन्य भक्ति हो, और अपने शरीर, अपनी इन्द्रियों तथा मन, बुद्धि इत्यादि से जो भी कर्म किये जायें, वह सारे कर्म और उनके फल परमात्मा के अर्पण किये जायें, परन्तु इसके विशेष अर्थ भी हैं, और वह यह कि उस ईश्वर का वाचक शब्द "ओम्" है इस ओम् का जप और ओम् के अर्थ की भावना साधक के, हृदय में निरन्तर बनी रहे। चित्त को सारे सांसारिक संस्कारों से निवृत्त कर केवल अपने प्रियतम प्रभु में स्थिर कर देने का नाम भावना है। केवल ईश्वर ही साधक का ध्येय रह जाए।

भूल जाऊँ मैं सभी को भूल जायें सब मुझे।
देंगे वह दर्शन मेरे हृदय में आकर तब मुझे॥

यह भावना 'ओम्' के जप द्वारा इतनी प्रबल हो कि ओम् का मानसिक उच्चारण होते ही ईश्वर का दिव्य स्वरूप अन्तरात्मा के सामने आ जाये। ओम् जप द्वारा व्यास मुनि ने आत्मदर्शन की बात लिखी है। यह जप चार प्रकार से उपनिषदों के ऋषियों ने बतलाया है। (१) ऊँचे लम्बे मीठे स्वर से (२) नासिका के द्वारा भँवरे के स्वर से, (३) सूक्ष्म शरीर में (जो अंगुष्ठ मात्र है) प्रवेश करके मानसिक जप (४) समष्टि आत्मा में व्यष्टि आत्मा को प्रवेश करके केवल ध्यान से। इसकी विधि किसी जानकार से सीख लेनी चाहिये।

परन्तु इस विधि को सीखने से पूर्व साधक को हृदय में उत्कट इच्छा और श्रद्धा होनी आवश्यक है। सर्व साधारण को जो योग के मार्ग पर चलना चाहते हैं (समाधि पाद के बीसवें सूत्र के अनुसार) पाँच उपायों को प्रयोग में लाना होता है, जिन में से "श्रद्धा" पहले नम्बर पर है, योग मार्ग श्रद्धा का मार्ग है, यह श्रद्धा माता की तरह साधक की हर पग पर रक्षा करती है। दूसरा उपाय जो साधक को अपनाना है, वह वीर्यवान्—शक्ति और उत्साह से भरपूर होना है। वीर्यवान् होने से स्मृति दृढ़ होने लगती है, तब मन समाहित होना शुरू हो जाता है, जिस से प्रज्ञा खिल उठती है, जड़ चेतन में बुद्धि विवेक करने लगती है। (१) श्रद्धा (२) वीर्य (३) स्मृति (४) समाधि तथा (५) प्रज्ञा यह पाँच उपाय अपने अन्दर साधक को धारण करने होते हैं।

अब योग के पहले तथा दूसरे अंगों को जीवन में ढालना होता है, इसकी सरल विधि यह है कि पहले एक यम "अहिंसा" का अभ्यास शुरू किया जाये।

व्यास मुनि के कथनानुसार "अहिंसा" का तात्पर्य यह है कि "सर्वकाल में सर्व प्रकार से सब प्राणियों का चित्त में भी द्रोह न करना।" साधक व्रत धारण करे, प्रतिज्ञा करे कि अब मैंने अहिंसा का व्रत ले लिया है, मेरा चित्त सदा अहिंसा की भावना से भरपूर रहेगा, अपने कमरे में साधक मोटो लगा ले—"मैं अहिंसा पर आरूढ़ रहूंगा"। अहिंसा के प्रेमियों की संगति करे, पुस्तक भी ऐसी ही पढ़े। सायं तथा प्रातः आत्म-निरीक्षण करे कि आज मैं अपने व्रत से गिरा तो नहीं, यदि फिसलावट आ गई है तो प्रभु को समक्ष समझ कर फिर प्रतिज्ञा करे कि अब पुनः ऐसी गलती नहीं होगी। ऐसे प्रतिदिन करने से साधक के अन्दर अहिंसा की भावना परिपक्व हो जाती है, उसके मन से घृणा, ईर्ष्या, द्वेष इत्यादि की भावनायें मिट जाती हैं। मन महान्, चित्त विशाल और बुद्धि निर्मल हो जाती है और साधक का जीवन यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय के छठे मंत्र के अनुसार हो जाता है, जिस में कहा है कि—

"जो साधक सब प्राणी अप्राणियों को आत्मा में देखता है और समस्त प्राणियों में (अपनी) आत्मा को देखता है, वह (सर्वात्मदर्शी बन) किसी से घृणा नहीं करता।"

सारे यम नियमों की जान अहिंसा नियम है, इसलिए इस का अभ्यास पूर्ण रूप से साधक को कर लेना चाहिये। इस अभ्यास में एक से लेकर तीन मास लग जायेंगे। तब सत्य का अभ्यास आरम्भ कर दे। इसी प्रकार पाँचों यमों को पाँच छः मास के अन्दर जीवन में ढाला जा सकता है। तत्पश्चात् नियमों का अभ्यास दो तीन मास के भीतर परिपक्व हो जाता है।

यम नियमों को जीवन में ढालने के साथ आसन को दृढ़ बनाने का अभ्यास जारी रखना उचित है। आसन दृढ़ बनाने के लिए शरीर का स्वस्थ तथा आहार का सात्त्विक होना अनिवार्य है। पहले ही दिन शरीर पर बहुत बोझ डालना अच्छा नहीं, आसन का समय धीरे २ पांच २ मिनट बढ़ाने से सुगमता रहती है,इस प्रकार छः मास या एक वर्ष में साढ़े तीन घण्टे का अचल दृढ आसन बना लेना चाहिये। साढ़े तीन घण्टे एक ही प्रकार से अडोल आसन रखने से मन स्वयं लय होने लगता है।

आसन दृढ़ करने का अभ्यास करते हुए साथ २ ओम् का उपांशु तथा मानसिक जप भी जारी रहना चाहिये।

कम से कम एक घण्टे का दृढ़ आसन हो जाने के पश्चात् प्राणायाम का अभ्यास प्रारम्भ करने से सुगमता रहती है। केवल पुस्तक पढ़ कर प्राणायाम शुरू नहीं करना चाहिये, किसी अच्छे अनुभवी व्यक्ति ही से इसकी विधि सीखनी उचित है। रेचक, पूरक, कुम्भक, प्राणायाम द्वारा ही

प्राणों का वशीकार हो जाता है। अधिक तीव्र प्राणायाम विशेष रोगों को दूर करने के लिये होते हैं। मन को समाहित करने के लिये कुम्भक ही पर्याप्त है। कुम्भक दो प्रकार का है, एक बाह्य कुम्भक, दूसरा आन्तरिक कुम्भक। प्रश्वास को फैंक कर उसे अपने सामर्थ्यानुसार बाहर रोकना यह बाह्य कुम्भक है। श्वास का अन्दर ले जा कर उसे अन्दर ही शक्ति अनुसार रोकना आन्तरिक कुम्भक कहलाता है। अन्दर के कुम्भक की अवधि धीरे २ बढ़ाते चले जाना चाहिये, परन्तु शक्ति से अधिक रोकना नहीं, यदि सामर्थ्य से अधिक रोका जाएगा तो हानि होगी। प्राण सिंह के समान हैं, जैसे खुले वन में खुले सिंह को बड़ी सावधानी से पकड़ा जाता है, ऐसे ही शरीर रूपी वन में प्राण रूपी सिंह को बड़ी सावधानी तथा धैर्य ही से पकड़ना होता है। जिस साधक ने यम नियम अपने जीवन में ढाल लिये हैं और जिसने आसन दृढ़ कर लिया है वह यदि अन्दर का कुम्भक साढ़े दस मिनट का कर ले तो प्राण उसके वश में हो जाते हैं। तब इन्द्रियों के वशीकार में अधिक समय नहीं लगता और इसी समय के अन्दर प्रत्याहार में सफलता मिल जाती है। प्रत्याहार समस्त शक्ति को केन्द्रित करने की कार्य प्रणाली ही का नाम है। फिर धारणा की सफलता तब होती है, जब कुम्भक साढ़े इकीस मिनट का हो जाता है और ४३ मिनट कुम्भक होने पर ध्यानावस्था प्राप्त हो जाती है, समाधि अवस्था के लिये ध्यान से दुगना कुम्भक आवश्यक होता है। ये अवस्थायें

प्राणायाम के अतिरिक्त मंत्र जप से भी प्राप्त हो सकती हैं, अनुभवी लोगों का अनुभव यह है कि जब जप पर्याप्त संख्या तक पहुंच जाता है तो श्वास प्रश्वास की गति अत्यन्त सूक्ष्म हो कर स्वयं प्राणायाम सिद्ध होने लगता है।

इन सारी साधनाओं का मतलब तो यही है कि किसी प्रकार चित्त की वृत्तियाँ निरुद्ध हो जायें, और मन बाह्य विषयों से सर्वथा रिक्त हो जाये, ताकि आत्मज्योति जाग उठे और परमानन्द से मिलाप हो जाये। उपासना योग का विधान इसी उद्देश्य को सामने रखकर स्वामी दयानन्द ने किया है, महर्षि का यह अटल विश्वास था कि प्रभु की कृपा के बिना कुछ नहीं प्राप्त हो सकता ।

महाराज ने यजुर्वेद भाष्य अध्याय सात के ४३वें मंत्र "अग्ने नय सुपथा ...."का भावार्थ यह लिखा है—

"कोई भी पुरुष परमात्मा की प्रेम भक्ति के बिना योग सिद्धि को प्राप्त नहीं होता और जो प्रेम-भक्ति युक्त होकर योग बल से परमेश्वर का स्मरण करता है, उसको वह दयालु परमात्मा शीघ्र योगसिद्धि देता है ।"

प्रयोजन यही है कि योग के अंगों को जीवन में धारण करते हुए "ईश्वर प्रणिधान" प्रभु की विशेष भक्ति द्वारा ओम् का निरन्तर जप करते रहना चाहिये, और साथ ही ओम् के जो गुण हैं, उन गुणों में से कुछ गुण तो साधक को अपने अन्दर ले ही आने चाहियें । साधक साधना करता हुआ साध्य तक

तभी पहुंच सकता है, जब साध्य का प्यारा बनने की कुछ योग्यता उसमें आजाये। आत्मसमर्पण तभी हो सकेगा, तभी साधक अधिकारी बन कर अपने प्यारे प्रभु से कह सकेगा—'

दर पर तेरे आन खड़े हैं बने सवाली नाथ।
तुझ बिन और न कोई सहारा लाज तिहारे हाथ॥

और क्या प्रभु फिर ऐसे साधक पर कृपा नहीं करते ? करते हैं और निश्चित रूप से करते हैं, वह प्रभु तो दयामय, स्नेहमय प्रेममय प्रभु हैं, वह तो भक्तवत्सल प्रभु हैं, वह तो करुणामय स्वामी हैं, प्रीतिमय सखा हैं, और प्रेममय कान्त हैं, हां हां वह ऐसी मां हैं जिसका हृदय अपनी सन्तान के कल्याण के लिये सदा द्रवीभूत रहता है। बिना संकोच के अपनी कथा और व्यथा उसे सुनाओ, वह सुनता है और अन्तर्ध्यान हुआ सुनता है और अपने प्यारे को सन्मार्ग पर ले चलता है—

ऋग्वेद २–२३ का यह चौथा मंत्र देखिये।

ओम्—सुनीतिभिर्नयसि त्रायसे जनं यस्तुभ्यं दाशान्न तमंहो अश्नवत्।

"हे प्रभु ! तू मनुष्यों को अच्छे मार्ग से ले जाता और उनकी रक्षा करता है, जो साधक अपने आप को तेरे आगे समर्पण करता है, उस साधक को पाप नहीं प्राप्त होता।"

यह अनन्य भक्ति साधक के सब कार्य संवारती रहती है; अथर्ववेद ६–४१–१ में बतलाया भी है—

ओम्—मनसे चेतसे धिय आकूतय उत चित्तये ।
मत्यै श्रुताय चक्षसे विधेम हविषा वयम् ॥

"हम सब मन के लिये, चित्त के लिये (बुद्धि के लिये, शुभ संकल्प के लिये) और ज्ञान के लिये, मनन के लिये, श्रवण के लिये, दर्शनादि शक्तियों के लिये भक्ति द्वारा भगवान् की आराधना करें।"

अनन्य भक्ति द्वारा क्या कुछ प्राप्त नहीं हो जाता और इसकी सरल सुन्दर विधि उपासना योग में बतलाई गई है। ओम् सारे वेदों का सार है। यह अक्षर सब से उत्तम सहारा है, इसी का पल्ला पकड़ कर ब्रह्मलोक तक पहुंचा जा सकता है, जिस साधक क अन्तःकरण पर यम नियमों का गाढ़ा रंग चढ़ गया है, वह ओम् द्वारा सब कुछ पा लेता है, भक्ति का सब से सुन्दर साधन ओम् ही है। गोपथ ब्राह्मण में कहा भी है—

आत्मभैषज्यमात्मकैवल्यमोङ्कारः ।

"ओंकार आत्मा की चिकित्सा और आत्मा को मोक्ष दिलाने वाला है।"

और गोपथ ब्राह्मण ही में यह भी कहा है—

अमृतं वै प्रणवः, अमृतेनैव तन्मृत्युं तरति ।

"प्रणव ओम् अमृत (जीवन) है, इस अमृत के द्वारा मृत्यु को पार करता है।"

और योगी याज्ञवल्क्य का यह आदेश है कि—

मङ्गल्यं पावनं धर्म्यं सर्वकामप्रसाधनम् ।
ओंकारं परमं ब्रह्म सर्वमन्त्रेषु नायकम् ॥
प्रजापतेर्मुखोत्पन्नं तपःसिद्धस्य वै पुरा ।
जपेन दहते पापं प्राणायामैस्तथाऽसमम् ॥

"ओम् मंगलमय है, पवित्र, धर्मकार्य रूप सर्वकामना-सिद्धि का हेतु है। यह ओम् परम ब्रह्म और सब मंत्रों में शिरोमणि है। यह ओम् सर्व प्रथम प्रजापति के मुख से उत्पन्न अर्थात् उच्चारित हुआ, तपस्या से सिद्ध हुआ, ओम् के जप और प्राणायाम द्वारा सब पाप दग्ध हो जाते हैं।"

एक कवि ने भी कहा है—

जब हि नाम हृदय धरयो भयो पाप को नास ।
जैसे चिन्गी आग की पड़ी पुराने घास ॥

और मुण्डकोपनिषद् के ऋषि ने आत्मा का ध्यान ओम् द्वारा ही बतलाया है —

ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं स्वस्ति वः पराय तमसः परस्तात् ।

"उस आत्मा का ओंकार (ओम्) के रूप में ध्यान करो तुम्हारा कल्याण होगा, गाढ़ान्धकार के भी परले पार ले जाने का यही साधन है ।"

ओम् ही वह नाव है, जिसका सहारा ले कर भव सागर से सरलता से पार हो सकते हैं। अथर्ववेद १५—३—६ में आया है—

उद्गीथ उपाश्रयः।

"ओंकार—ओम् टेक (सहारा) है"।

गीता में भगवान् कृष्ण ने भी यही आज्ञा दी है कि मृत्यु समय जो ओम् का जप और प्रभु का ध्यान करता हुआ प्राण देगा वह परम गति को प्राप्त होगा। और तो और अग्निपुराण (२१५—१) में भी ओम् ही को सार बतलाया है—

ओंकारं यो विजानाति स योगी स हरिः पुमान्।
ओंकारमभ्यसेत्तस्मान्मन्त्रसारन्तु सर्वदम् ॥

"जो ओंकार को जानता है, वही योगी और वही हरि है, यह ओंकार सारे मंत्रों का सार है, इसीलिये इसी का सदा प्रयोग करना चाहिए।"

और योगशिखोपनिषद् में इसके जप तथा ध्यान की यह विधि बतलाई है—

मनः सर्वत्र संयम्य ओंकारं तत्र चिन्तयेत्।
ध्यायेत् सततं प्राज्ञो हृत्कृत्वा परमेष्ठिनम् ॥

"सारे विषयों से मन का संयम करके ज्ञानी साधक मन में—ओम् का ध्यान करते हैं और परमात्मा को हृदय में स्थापन करके सर्वदा उसी का चिन्तन करते हैं।"

परन्तु झगड़ा तो मन के संयम का है, उसे ओम् के जप में कैसे लगाया जाय। अनुभव द्वारा जो ढंग लाभ पहुंचाता है वह यह है—

प्रातः ३ या ४ बजे निद्रा त्याग कर नहाकर या हाथ मुँह धो कर, गुदगुदे आसन पर स्वस्तिक, पद्म, सिद्ध अथवा सुखासन से बैठिये, धूप या अगरबत्ति जला लीजिये, तब आँखें खुली रख कर पाँच बार गायत्री मंत्र का उच्चारण ऐसी ध्वनि से कीजिये कि अपने ही कान सुन सकें। फिर आँखें बन्द करके यह संकल्प कीजिये —

"इस समय इस दुनियां के साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं, जिस परिवार में हूँ, इसके साथ भी मेरा इस समय कोई सम्बन्ध नहीं, जो कार्य करता हूँ, उसके साथ भी इस समय मेरा कोई सम्बन्ध नहीं, मेरा सम्बन्ध इस समय अपने परम पिता और सच्ची माता के साथ है, मैं उसी से बात करूँगा।"

यह संकल्प करके अब श्वास के द्वारा ओम् का जप शुरू कीजिये, जब श्वास अन्दर जाये तो हृदय में "ओ" कहिये, जब श्वास बाहर आये तो "म्" कहिये। श्वास को अपने स्वभावानुसार चलते रहने दीजिये, उसे न धीमा करें न तीव्र। इस प्रकार जप करते जब २० मिनट हो जायें तो श्वास द्वारा जप छोड़ दीजिये, अर्थात् अब श्वास का ध्यान छोड़ कर, हृदय में या भ्रुकुटि में अपने ध्यान

को ले जाइये, और वहां अपने ध्यान से ओम् लिखिये, संकल्प या ध्यान द्वारा ओम् लिखा जायेगा, और फिर मिट भी जायगा, मिटने पर पुनः ओम् लिख लीजिये, यह अभ्यास आधा घण्टा कीजिये, चाहें तो ओम् का जप भी करते रहिये, ऐसा अभ्यास करते करते तीन मास के पश्चात् ओम् का अक्षर वहीं टिक जायेगा, मिटेगा नहीं, जब यह अवस्था हो तो आभ्यन्तर त्राटक उसी ओम् अक्षर पर कीजिए, स्थूल चक्षु से किसी प्रकार का कार्य नहीं लेना, अन्दर का त्राटक करते कुछ समय के पश्चात् वह ओम् ज्योति के रूप में बदल जाएगा, जब ऐसा हो तो समझ लीजिए कि आप ध्यान की पहली अवस्था में पहुंच गए हैं।

इस सारी साधना में जब भी यह ज्ञात हो कि मन खिसक गया है, तब तत्काल मन को अपना संकल्प यदि कराइए। "अरे मन तू कहां भागा जाता है, अभी तो तू ने संकल्प किया था कि दुनिया, परिवार, तथा कारोबार से कोई सम्बन्ध नहीं तब कहां जा रहा है यहीं बैठ कर जप कर।" तब मन फिर जप में लग जाएगा, जब भी मन को भागता देखें, तभी उसे पकड़ कर फिर जप में लगा दीजिए, बार-बार ऐसा करने पर मन फिर जप ही में लगा रहेगा।

ज्ञान द्वारा, प्राण द्वारा और ध्यान द्वारा मन, बुद्धि और चित्त का वशीकार होने लगता है। ज्ञान द्वारा मन को समझाओ, इस नश्वर जगत् की अस्थिरता बतला कर मन में वैराग्य की भावना ले आओ, और एकरस रहने वाले परमात्मा

के गुण वर्णन करके मन को माया से हटाकर आत्मा की ओर चलने की प्रेरणा करो। प्राणायाम द्वारा प्राण को वश में करने से मन स्वयमेव वश में हो जाता है। और ध्यान तो मन, बुद्धि, चित्त को स्थिर करने का अमोघ साधन है—

ध्यान-सिन्धु मुक्ता घने जो खोजे सो पाये।
चञ्चलता मन की मिटे सहज शान्ति मिल जाये॥

यही नहीं अपितु "ध्यान" आत्मा का बहुमूल्य उपहार है, एक ऋषि ने भी कहा है—

ध्यानोपहार एवात्मा ध्यानमस्य महार्चनम्।
विना तेनेतरेणायमात्मा लभ्यत एव नो॥

"आत्मा का उपहार (भेंट) ध्यान ही है और ध्यान ही इसका महा अर्चन (पूजा) है। उसके बिना यह आत्मा प्राप्त नहीं होता।" इसीलिये महर्षि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश के तीसरे समुल्लास में यह आज्ञा दी है कि—

"न्यून से न्यून एक घन्टा ध्यान अवश्य करें। जैसे समाधिस्थ होकर योगी लोग परमात्मा का ध्यान करते हैं, वैसे ही संध्योपासन भी किया करें।"

योग दर्शन साधनपाद में ऋषि ने यह बतलाया है कि "ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः" = "उन क्लेश वृत्तियों को ध्यान से हटाना चाहिए।" जो लोग पाँच मिनट में ही संध्या समाप्त कर देते हैं, उनके क्लेश कैसे मिट सकेंगे और उनके आत्मा की भूख प्यास कैसे मिटेगी।

आत्मा परमात्मा के दर्शन तभी पा सकेगा, जब ध्याना-वस्था परिपक्व होगी। मुण्डकोपनिषद् में स्पष्ट यह घोषणा है कि—

तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः। (मु० ३—१—८)

"उस कलारहित ब्रह्म को ध्यान द्वारा ही साक्षात् किया जा सकता है।"

परन्तु ध्यान कहते किस को हैं, योग दर्शन में तो ध्यान सम्बन्ध में यह लिखा है कि—

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।

"उस (धारणा) में प्रत्यय (ज्ञान) का एक सा बना रहना ध्यान कहा जाता है।"

यदि ज्योति की या ओम् अक्षर की धारणा की है तो निरन्तर उसी का ज्ञान बना रहे तो वह ध्यान कहलाता है। परन्तु सांख्य ने यह कहा है कि—

ध्यानं निर्विषयं मनः।

"मन सर्वथा निर्विषय हो जाय तो ध्यान कहाता है।" परन्तु जब मन से सारे बाह्य विषय निकाल दिये जायेंगे तब मन में ब्रह्म विषय तो विद्यमान रहेगा ही, ब्रह्म को वहां से कहां निकाला जायगा। इस लिए योग दर्शन और सांख्य की शिक्षा में कोई भेद नहीं। दोनों ध्यानावस्था में ले जा कर आत्मा को परमात्मा में जोड़ने की बात कह रहे हैं। इसकी सुन्दर विधि महर्षि ने सत्यार्थप्रकाश समुल्लास सात में यह लिखी है—

"जब उपासना करना चाहें तब एकान्त शुद्ध देश में जाकर, आसन लगा, प्राणायाम कर, बाह्य विषयों से इन्द्रियों को रोक, मन को नाभिप्रदेश में वा हृदय, कण्ठ, नेत्र, शिखा अथवा पीठ के मध्य हाड़ में किसी स्थान पर स्थिर कर अपने आत्मा और परमात्मा का विवेचन करके परमात्मा में मग्न हो जाने से संयमी होवें। जब इन साधनों को करता है तब उसका आत्मा और अन्तःकरण पवित्र हो कर सत्य से पूर्ण हो जाता है। नित्य प्रति ज्ञान विज्ञान बढ़ा कर मुक्ति तक पहुंच जाता है। जो आठ पहर में एक घड़ी भर भी इस प्रकार ध्यान करता है वह सदा उन्नति को प्राप्त होता जाताहै।"

और "ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका" में और भी अधिक विस्तार से महर्षि ने उपासना तथा ध्यान की विधि वेद, योगदर्शन तथा अपने अनुभव से लिखी है। महाराज उपासना के विषय में लिखते हैं।

"जैसे भोजन के पीछे किसी प्रकार से वमन हो जाता है, वैसे ही भीतर के वायु को बाहर निकाल के सुखपूर्वक जितना बन सके उतना बाहर ही रोक दे। पुनः धीरे-धीरे भीतर लेकर पुनरपि ऐसे ही करे। इसी प्रकार बारम्बार अभ्यास करने से प्राण उपासक के वश में हो जाता है। और प्राण के स्थिर होने से मन, मन के स्थिर होने से आत्मा भी स्थिर हो जाता है। इन तीनों के स्थिर होने के समय अपने आत्मा के बीच में जो आनन्दस्वरूप; अन्तर्यामी, व्यापक परमेश्वर है उसके स्वरूप में मग्न हो जाना चाहिये। जैसे मनुष्य जल में गोता मार कर ऊपर आता है. फिर गोता लगा जाता है, इसी प्रकार अपने आत्मा को परमेश्वर के बीच में बारम्बार मग्न करना चाहिये।"

इस विधि पर आचरण करने से क्या होता है, इसका उत्तर महाराज ने 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' के 'मुक्ति विषय' में यह दिया है—

"इसी प्रकार परमेश्वर की उपासना करके, अविद्या आदि क्लेश तथा अधर्माचरण आदि दुष्ट गुणों का निवारण करके शुद्ध विज्ञान और धर्मादि शुभ गुणों के आचरण से आत्मा की उन्नति करके जीव मुक्ति को प्राप्त हो जाता है।"

और यह मानव चोला मिलता भी इसलिये है ताकि पूर्व-जन्मों के किए कर्मों के भोग भोगे जा सकें, और इसके साथ प्रभु-मिलाप की तैयारी की जा सके। नर तन पा कर जो केवल दुःख सुख भोगने ही में जीवन गुजार देते हैं, उनका जीवन पशुवत् है, हां जो भोग भोगने के साथ योग साधना द्वारा प्यारे प्रभु के मिलन की तैयारी करते रहते हैं, उनका जीवन सफल होता है। बाल काल से लेकर युवा काल तक योग साधनायें बड़े उत्तम ढंग से होती हैं, वृद्धावस्था में तो शरीर तथा शरीर के अंग ही रूठे रहते हैं, इन्हीं के मनाने में दिन रात लगा रहना होता है, फिर भी कुछ साधना तो वृद्धावस्था में भी हो ही सकती है। प्रभु के नाम ओम् का जप तथा तदनुकूल आचरण तो बनाया ही जा सकता है, अतएव आप चाहे जिस भी अवस्था में हैं, उपासना योग द्वारा आप का कल्याण ही होगा। महर्षि ने उपासना विषय में जो आदेश दिये हैं, उन्हें दत्तचित्त हो कर बार बार पढ़िये और उन पर आचरण कीजिये, और फिर देखिये आप के जीवन में माधुर्य

और सौंदर्य आता है या नहीं, और हर प्रकार के कार्य में सफल होने की योग्यता बढ़ती है या नहीं।

यजुर्वेद में परमात्मा हमें आदेश देता है कि—

शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः। (य० ११–५)

"हे अमृत—मोक्षमार्ग के पालन करने वाले मनुष्यो! तुम सब लोग सुनो कि जो दिव्य लोकों अर्थात् मोक्ष सुखों को पूर्व प्राप्त हो चुके हैं, उसी उपासना योग से तुम लोग भी उन सुखों को प्राप्त हो, इसमें सन्देह मत करो। इसलिये मैं तुम को उपासना योग में युक्त करता हूं।"

आओ आज दृढ़ प्रतिज्ञा करें कि हम प्यारे प्रभु के आदेश पर चलते हुए अपना जीवन सफल बनायेंगे॥

ईश्वर की उपासना कैसे करनी चाहिये ?

उपासना के आठ अंगों की व्याख्या

[ऋषि दयानन्द सरस्वती]

ईश्वर की उपासना किस रीति से करनी चाहिये, सो आगे लिखते हैं—

जब-जब मनुष्य लोग ईश्वर की उपासना करना चाहें; तब-तब इच्छा के अनुकूल एकान्त स्थान में बैठकर अपने मन को शुद्ध और आत्मा को स्थिर करें, तथा सब इन्द्रिय और मन को सच्चिदानन्द आदि लक्षण वाले अन्तर्यामी अर्थात् सब में व्यापक और न्यायकारी परमात्मा की ओर अच्छे प्रकार से लगाकर सम्यक् चिन्तन करके उसमें अपने आत्मा को नियुक्त करें। फिर उसी

की स्तुति, प्रार्थना और उपासना को वारंवार करके अपने आत्मा को भली-भाँति से उस में लगा दें। इसकी रीति पतञ्जलि मुनि के किये योग-शास्त्र और उन्हीं सूत्रों के वेद-व्यास मुनि जी के किये भाष्य के प्रमाणों से लिखते हैं—

१. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥ यो० १।१।२ ॥

चित्त की वृत्तियों को सब बुराइयों से हटा के शुभ गुणों में स्थिर करके परमेश्वर के समीप में मोक्ष को प्राप्त करने को योग कहते हैं। और वियोग उसको कहते हैं कि परमेश्वर और उसकी आज्ञा से विरुद्ध बुराइयों में फंस के उससे दूर हो जाना।

(प्रश्न) जब वृत्ति बाहर के व्यवहारों से हटा के स्थिर की जाती है, तब कहां पर स्थित होती है ?

(उत्तर) इसका उत्तर यह है कि—

२. तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥ १।१।३॥

जैसे जल के प्रवाह को एक ओर से दृढ़ बांध के रोक देते हैं, तब वह जिस ओर नीचा होता है उस ओर चलके कहीं स्थिर हो जाता है। इसी प्रकार मन की वृत्ति भी जब बाहर से रुकती है, तब परमेश्वर में स्थिर हो जाती है॥

एक तो चित्त की वृत्ति रोकने का यह प्रयोजन है, दूसरा यह है कि—

३. वृत्तिसारूप्यमितरत्र ॥ १ । १ । ४ ॥

उपासक योगी और संसारी मनुष्य जब व्यवहार में प्रवृत्त होते हैं, तब योगी की वृत्ति सदा हर्ष-शोक रहित आनन्द से प्रकाशित होकर उत्साह और आनन्द-युक्त रहती है, और संसार के मनुष्य की वृत्ति सदा हर्ष-शोक-रूप दुःखसागर में ही डूबी रहती है। उपासक योगी की तो ज्ञान-रूप प्रकाश में सदा बढ़ती रहती है और संसारी मनुष्य की वृत्ति सदा अन्धकार में फंसती जाती है।

४. वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः ॥ १।१।५॥

सब जीवों के मन में पांच प्रकार की वृत्ति उत्पन्न होती हैं। उसके दो भेद हैं एक क्लिष्ट, दूसरी अक्लिष्ट अर्थात् क्लेशसहित और क्लेशरहित। उन में से जिनकी वृत्ति विषयासक्त, परमेश्वर की उपासना से विमुख होती है, उनकी वृत्ति अविद्यादि क्लेश-सहित और जो पूर्वोक्त उपासक हैं, उनकी क्लेश-रहित शान्त होती है।

वे पांच वृत्ति ये हैं—

५. प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः ॥
१ । १ । ६ ॥

पहिली-प्रमाण, दूसरी-विपर्यय, तीसरी-विकल्प, चौथी निद्रा और पांचवीं-स्मृति ।

उनके विभाग और लक्षण ये हैं—

६. प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि ॥ १।१।७॥

प्रमाणसंज्ञक वृत्ति प्रत्यक्ष अनुमान और आगम भेद से तीन प्रकार की है ।

प्रत्यक्ष उसको कहते हैं, जो चक्षु आदि इन्द्रिय और रूप आदि विषयों के सम्बन्ध से सत्य ज्ञान उत्पन्न हो । जैसे दूर से देखने में सन्देह हुआ कि यह मनुष्य है वा कुछ और, फिर उसके समीप होने से निश्चय होता है कि यह मनुष्य है, अन्य नहीं ।

अनुमान—जो किसी पदार्थ के चिह्न देखने से उसी पदार्थ का यथावत् ज्ञान हो, वह अनुमान कहाता है । जैसे किसी के पुत्र को देखने से ज्ञात होता है कि इसके माता पिता आदि हैं, वा अवश्य थे ।

[आगम शब्द से वेद तथा आप्तोदेश दोनों का ग्रहण होता है ।]

७. विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम् ॥

१ । १ । ८ ॥

दूसरी विपर्यय कि जिससे मिथ्या ज्ञान हो अर्थात् जैसे को तैसा न जानना, अथवा अन्य में अन्य की भावना कर लेना। इसको विपर्यय कहते हैं।

८. शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः ॥

१ । १ । ९ ॥

तीसरी विकल्प वृत्ति—जैसे किसी ने किसी से कहा कि एक देश में हमने आदमी के सिर पर सींग देखे थे। इस बात को सुन के कोई मनुष्य निश्चय कर ले कि ठीक है, सींग वाले मनुष्य भी होते होंगे। ऐसी वृत्ति को विकल्प कहते हैं, सो झूठी बात है। अर्थात् जिसका शब्द तो हो परन्तु किसी प्रकार का अर्थ किसी को न मिल सके, इसी से इसका नाम विकल्प है।

९. अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा ॥१।१।१०॥

चौथी निद्रा अर्थात् जो वृत्ति अज्ञान और अविद्या के अन्धकार में फंसी हो उस वृत्ति का नाम निद्रा है।

१०. अनुभूतविषयासंप्रमोषः स्मृतिः ॥१।१।११॥

पांचवीं स्मृति अर्थात् जिस व्यवहार वा वस्तु को प्रत्यक्ष देख लिया हो, उसी का संस्कार ज्ञान में बना रहता है, उस विषय को (अप्रमोष) भूले नहीं; इस प्रकार की वृत्ति को स्मृति कहते हैं।

इन पांच वृत्तियों को बुरे कामों और अनीश्वर के ध्यान से हटाने का उपाय कहते हैं।

११. अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ॥ १।१।१२॥

जैसा अभ्यास आगे लिखेंगे वैसा करें और वैराग्य अर्थात् सब बुरे कामों और दोषों से अलग रहे। इन दोनों उपायों से पूर्वोक्त पांचों वृत्तियों को रोक के उनको उपासना योग में प्रवृत्त रखें।

उपासना की सिद्धि का परम सहायक साधन क्या है? यह कहते हैं—

१२. ईश्वरप्रणिधानाद् वा ॥ १ । १ । २३ ॥

ईश्वर में विशेष भक्ति होने से मन का समाधान होके मनुष्य समाधि-योग को शीघ्र प्राप्त हो जाता है।

अब ईश्वर का लक्षण कहते हैं—

१३. क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ॥१।१।२४ ॥

इसी प्रकरण में आगे लिखे जो अविद्यादि पांच क्लेश और बुरे कर्मों की जो २ वासना, इन सबसे सदा अलग और बन्धन रहित है, उसी पूर्ण पुरुष को ईश्वर कहते हैं। फिर वह कैसा है ? जिस से अधिक वा तुल्य दूसरा पदार्थ कोई नहीं,तथा जो सदा आनन्द-ज्ञान-स्वरूप सर्वशक्तिमान् है, उसी को ईश्वर कहते हैं। क्योंकि—

१४. तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् ॥ १।१।२५॥

जिस में नित्य सर्वज्ञ ज्ञान है, वही ईश्वर है । जिस के ज्ञानादि गुण अनन्त हैं, जो ज्ञानादि गुणों की पराकाष्ठा है, जिस के सामर्थ्य की अवधि नहीं और जीव के सामर्थ्य की अवधि प्रत्यक्ष देखने में आती है, इसलिये सब जीवों को उचित है कि अपने ज्ञान बढ़ाने के लिये सदैव परमेश्वर की उपासना करते रहें।

१५. स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥ १।१।२६ ॥

*[वह ईश्वर प्राचीन गुरुओं का भी गुरु है। उस में भूत भविष्यत् और वर्तमान काल का कुछ सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि वह अजर अमर नित्य है]

अब उसकी भक्ति जिस प्रकार करनी चाहिए, सो आगे लिखते हैं—

१६. तस्य वाचकः प्रणवः ॥ १।१।२७॥

ईश्वर का ओंकार नाम है, सो पिता-पुत्र के सम्बन्ध के समान है, और यह नाम ईश्वर को छोड़ के दूसरे अर्थ का वाची नहीं हो सकता।

ईश्वर के जितने नाम हैं, उन में से ओंकार सब से उत्तम नाम है। इसलिये—

१७. तज्जपस्तदर्थभावनम् ॥ १।१।२८॥

इसी नाम का जप अर्थात् स्मरण और इसी का अर्थ विचार सदा करना चाहिए कि जिससे उपासक का मन एकाग्रता, प्रसन्नता और ज्ञान को यथावत् प्राप्त हो कर स्थिर हो। जिससे उसके हृदय में परमात्मा का प्रकाश और परमेश्वर की प्रेमभक्ति सदा बढ़ती जाए।

फिर उस के उपासकों को यह भी फल होता है कि-

* कोष्ठान्तर्गत पाठ मूल में नहीं है। यह अर्थ हमने किया है-सम्पादक

१८. ततः प्रत्यक् चेतनाधिगमोऽप्यन्त-
रायाभावश्च ॥ १।१।२९॥

उस अन्तर्यामी परमात्मा की प्राप्ति और उसके अन्तराय अविद्यादि क्लेशों तथा रोगरूप विघ्नों का नाश हो जाता है।

वे विघ्न कौन से हैं और कितने हैं—

१९. व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्यावि-
रतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वा-
नि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः ॥ १।१।३० ॥

चित्त के विक्षेपक ९ अन्तराय = विघ्न हैं।

(१) व्याधि—धातुओं की विषमता से ज्वर आदि पीड़ा का होना।

(२) स्त्यान—सत्यकर्मों में अप्रीति।

(३) संशय—जिस पदार्थ का निश्चय किया चाहे उसका यथावत् ज्ञान न होना।

(४) प्रमाद—समाधि साधनों के ग्रहण में प्रीति और उनका विचार यथावत् न होना।

(५) आलस्य—शरीर और मन में आराम की इच्छा से पुरुषार्थ छोड़ बैठना।

(६) अविरति—विषयसेवा में तृष्णा का होना ।

(७) भ्रान्तिदर्शन—उलटे ज्ञान का होना । जैसे जड़ में चेतन और चेतन में जड़ बुद्धि करना तथा ईश्वर में अनीश्वर और अनीश्वर में ईश्वर भाव करके पूजा करना ।

(८) अलब्धभूमिकत्व—समाधि की प्राप्ति न होना ।

(९) अनवस्थितत्व—समाधि की प्राप्ति होने पर भी उस में चित्त स्थिर न होना ।

ये सब चित्त की समाधि होने में विक्षेप अर्थात् उपासनायोग के शत्रु हैं । अब इनके फल लिखते हैं—

२०. दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः ॥ १।१।३१ ॥

दुःख की प्राप्ति, मन का दुष्ट होना, शरीर के अवयवों का कांपना, श्वास और प्रश्वास के अत्यन्त वेग से चलने में अनेक प्रकार के क्लेशों का होना जो कि चित्त को विक्षिप्त कर देते हैं ।

ये सब क्लेश अशान्त चित्त वाले को प्राप्त होते हैं, शान्त चित्त वाले को नहीं और इनके छुड़ाने का मुख्य उपाय यही है कि—

२१. तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः ॥ १।१।३२॥

जो केवल एक अद्वितीय ब्रह्मतत्त्व है; उसी में प्रेम और सर्वदा उसी की आज्ञापालन में पुरुषार्थ करना है, यही एक उन विघ्नों के नाश करने को वज्ररूप शस्त्र है, अन्य कोई नहीं। इसलिए सब मनुष्यों को अच्छे प्रकार प्रेमभाव से परमेश्वर के उपासना-योग में नित्य पुरुषार्थ करना चाहिए कि जिस से वे सब विघ्न दूर हो जायें।

आगे जिस भावना से उपासना करने वाले को व्यवहार में अपने चित्त को प्रसन्न करना होता है, सो कहते हैं—

२२. मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् ॥

१ । १ । ३३ ॥

मैत्री अर्थात् इस संसार में जितने मनुष्य आदि प्राणी सुखी हैं उन सबों के साथ मित्रता करना। दुःखियों पर कृपादृष्टि रखनी। पुण्यात्माओं के साथ प्रसन्नता। पापियों के साथ उपेक्षा अर्थात् न उनके साथ प्रीति रखना न वैर ही करना, इस प्रकार के वर्तमान से उपासक के आत्मा में सत्यधर्म का प्रकाश और उसका मन स्थिरता को प्राप्त होता है।

२३. प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य ॥
१ । १ । ३४ ॥

जैसे भोजन के पीछे किसी प्रकार से वमन हो जाता है, वैसे ही भीतर के वायु को बाहर निकाल के सुख-पूर्वक जितना बन सके उतना बाहर ही रोक दे, पुनः धीरे-धीरे लेके पुनरपि ऐसे ही करे। इसी प्रकार बार २ अभ्यास करने से प्राण उपासक के वश में हो जाता है और प्राण के स्थिर होने से मन, मन के स्थिर होने से आत्मा भी स्थिर हो जाता है। इन तीनों के स्थिर होने के समय अपने आत्मा के बीच में जो आनन्दस्वरूप अन्तर्यामी व्यापक परमेश्वर है, उस के स्वरूप में मग्न हो जाना चाहिए। जैसे मनुष्य जल में गोता मार कर ऊपर आता है फिर गोता लगा जाता है, इसी प्रकार अपने आत्मा को परमेश्वर के बीच में बार २ मग्न करना चाहिए।

२४. योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः ॥ १ । २ ।२८ ॥

आगे जो उपासना-योग के आठ अंग लिखते हैं; उनके अनुष्ठान से अविद्यादि दोषों का क्षय और ज्ञान के प्रकाश की वृद्धि होने से जीव यथावत् मोक्ष को प्राप्त हो जाता है।

२५. यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणा-
ध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि ॥ १।२।२९ ॥

एक यम, दूसरा नियम, तीसरा आसन, चौथा प्राणायाम, पांचवां प्रत्याहार, छठा धारणा, सातवां ध्यान और आठवाँ समाधि । ये सब उपासना-योग के अंग कहाते हैं और आठ अंगों का सिद्धान्त-रूप फल संयम है।

२६. अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ॥
१।२।३० ॥

उन आठ अंगों में पहिला यम है, सो पाँच प्रकार का है। एक अहिंसा अर्थात् सब प्रकार से सब काल में सब प्राणियों के साथ वैर छोड़ के प्रेम प्रीति से वर्तना। दूसरा सत्य अर्थात् जैसा अपने ज्ञान में हो वैसा ही सत्य बोले, करे और माने। तीसरा अस्तेय अर्थात् पदार्थ वाले की आज्ञा के बिना किसी पदार्थ की इच्छा भी न करना, इसी को चोरीत्याग कहते हैं। चौथा ब्रह्मचर्य अर्थात् विद्या पढ़ने के लिए बाल्यावस्था से लेकर सर्वथा जितेन्द्रिय होना और पच्चीसवें वर्ष से लेके अड़तालीस वर्ष पर्यन्त विवाह का करना, परस्त्री वेश्या आदि का त्यागना, सदा

ऋतुगामी होना, विद्या को ठीक ठीक पढ़ के सदा पढ़ाते रहना और उपस्थेन्द्रिय का सदा नियम करना। पांचवाँ अपरिग्रह अर्थात् विषय और अभिमानादि दोनों से रहित होना। इन पाँचों का ठीक ठीक अनुष्ठान करने से उपासना का बीज बोया जाता है।

दूसरा अंग उपासना का नियम है, जो पांच प्रकार का है—

२७. शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥ १।२।३२ ॥

पहिला शौच अर्थात् पवित्रता करनी; सो भी दो प्रकार की है। एक भीतर की और दूसरी बाहर की। भीतर की शुद्धि धर्माचरण सत्यभाषण विद्याभ्यास, सत्संग आदि शुभगुणों के आचरण से होती है और बाहर की पवित्रता जल आदि से, शरीर स्थान मार्ग वस्त्र खाना पीना आदि शुद्ध करने से होती है। दूसरा संतोष, जो सदा धर्मानुष्ठान से अत्यन्त पुरुषार्थ करके प्रसन्न रहना और दुःख में शोकातुर न होना, किन्तु आलस्य का नाम संतोष नहीं है। तीसरा तपः—जैसे सोने को अग्नि में तपा के निर्मल कर देते हैं, वैसे ही आत्मा और मन को धर्माचरण और

शुभगुणों के आचरणरूप तप से निर्मल कर देना। चौथा स्वाध्याय अर्थात् मोक्षविद्याविधायक वेदशास्त्र का पढ़ना पढ़ाना, ओंकार के विचार से ईश्वर का निश्चय करना और पांचवां ईश्वरप्रणिधान अर्थात् सब सामर्थ्य, सब गुण, प्राण आत्मा मन के प्रेमभाव से आत्मादि सत्य द्रव्यों का ईश्वर के लिए समर्पण करना, ये पाँच नियम उपासना का दूसरा अंग है।

अब पाँच यम और पाँच नियमों के यथावत् अनुष्ठान का फल कहते हैं—

२८. अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः ॥

१। २। ३५॥

जब अहिंसा धर्म का निश्चय हो जाता है, तब उस पुरुष के मन से वैर भाव छूट जाता है, किंतु उसके सामने वा उसके सङ्ग से अन्य पुरुष का वैर भाव छूट जाता है।

२९. सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ॥

१। २। ३६ ॥

सत्याचरण का ठीक ठीक फल यह है कि जब मनुष्य निश्चय करके केवल सत्य ही मानता, बोलता और करता

है, तब वह जो २ योग्य काम करता है और करना चाहता है, वे सब सफल हो जाते हैं।

३०. अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ॥ १।२।३७ ॥

चोरी त्याग से यह बात होती है कि अस्तेय अर्थात् जब मनुष्य अपने शुद्ध मन से चोरी को छोड़ देने की प्रतिज्ञा कर लेता है, तब उसको सब उत्तम पदार्थ यथा-योग्य प्राप्त होने लगते हैं। और चोरी इसका नाम है कि मालिक की आज्ञा के बिना अधर्म से उसकी चीज़ को कपट से वा छिपाकर ले लेना।

३१. ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ॥१।२।३८॥

ब्रह्मचर्य सेवन से यह बात होती है कि जब मनुष्य बाल्यावस्था में विवाह न करे, उपस्थेन्द्रिय का संयम रखे, वेदादि शास्त्रों को पढ़ता पढ़ाता रहे, विवाह के पीछे भी ऋतुगामी बना रहे, परस्त्रीगमन आदि व्यभिचार को मन कर्म वचन से त्याग देवे, तब दो प्रकार का वीर्य अर्थात् बल बढ़ता है, एक शरीर का, दूसरा बुद्धि का। उसके बढ़ने से मनुष्य अत्यन्त आनन्द में रहता है ॥

३२. अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथंतासंबोधः ॥

१ । २ । ३९ ॥

अपरिग्रह का फल यह है कि जब मनुष्य विषयासक्ति से बच कर सर्वथा जितेन्द्रिय रहता है, तब मैं कौन हूँ कहाँ से आया हूँ और मुझको क्या करना चाहिये अर्थात् क्या काम करने से मेरा कल्याण होगा इत्यादि शुभ गुणों का विचार उसके मन में स्थिर होता है, ये ही पाँच यम कहाते हैं । इनका ग्रहण करना उपासकों को अवश्य चाहिये ।

परन्तु यमों का नियम सहकारी कारण है, जो कि उपासना का दूसरा अंग कहाता है और जिसका साधन करने से उपासक लोगों का अत्यन्त सहाय होता है । सो भी पाँच प्रकार का है । उनमें से प्रथम शौच का फल लिखा जाता है—

३३. शौचात् स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः ॥

१ । २ । ४० ॥

पूर्वोक्त (२७ वें सूत्र की व्याख्या में) दो प्रकार के शौच करने से भी जब अपना शरीर और उसके सब अव-

यत्र बाहर भीतर से मलीन ही रहते हैं, तब औरों के शरीर की भी परीक्षा होती है कि सबके शरीर मल आदि से भरे हुए हैं, इस ज्ञान से वह योगी दूसरे से अपना शरीर मिलाने में घृणा अर्थात् संकोच करके सदा अलग रहता है।

३४. सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि ॥ १ । २ । ४१ ॥

शौच से अन्तःकरण की शुद्धि, मन की प्रसन्नता और एकाग्रता, इन्द्रियों का जय तथा आत्मा के देखने अर्थात् जानने की योग्यता होती है।

३५. सन्तोषादनुत्तमः सुखलाभः १ । २ । ४२ ॥

पूर्वोक्त संतोष से जो सुख मिलता है, वह सब से उत्तम है और उसी को मोक्ष सुख कहते हैं।

३६. कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः ॥ १ । २ । ४३ ॥

पूर्वोक्त तप से उनके शरीर और इन्द्रियाँ अशुद्धि के क्षय से दृढ होके सदा रोगरहित रहती हैं।

३७. स्वाध्यायादिष्टदेवतासँप्रयोगः ॥ १ । २ । ४४ ॥

पूर्वोक्त स्वाध्याय से इष्ट देवता अर्थात् परमात्मा के साथ सम्प्रयोग अर्थात् मिलाप होता है। फिर परमेश्वर के अनुग्रह का सहाय, अपने आत्मा की शुद्धि, सत्याचरण और प्रेम के सम्प्रयोग से जीव शीघ्र ही मुक्ति को प्राप्त होता है।

३८. समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् ॥
१ । २ । ४५ ॥

पूर्वोक्त प्रणिधान से उपासक मनुष्य सुगमता से समाधि को प्राप्त होता है ॥

३९. स्थिरसुखमासनम् ॥ १ । २ । ४६ ॥

जिसमें सुखपूर्वक शरीर और आत्मा स्थिर हो, उसको आसन कहते हैं, अथवा जैसी रुचि हो वैसा आसन करे।

४०. ततो द्वन्द्वानभिघातः ॥ १ । २ । ४८॥

जब आसन दृढ़ होता है, तब उपासना करने में कुछ परिश्रम करना नहीं पड़ता और न सरदी गरमी अधिक बाधा करती है।

४१. तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ॥ १ । २ । ४९ ॥

जो वायु बाहर से भीतर को आता है, उसको श्वास और जो भीतर से बाहर जाता है, उसको प्रश्वास कहते हैं। उन दोनों के आने जाने को विचार से रोके, नासिका को हाथ से कभी न पकड़े, किन्तु ज्ञान से ही उसको रोकने को प्राणायाम कहते हैं और प्राणायाम चार प्रकार से होता है।

४२. बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः ॥ १ । २ । ५० ॥

एक बाह्य विषय, दूसरा आभ्यन्तर विषय, तीसरा स्तम्भवृत्ति, ।

४३. बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः ॥ १ । २ । ५१ ॥

चौथा जो बाहर भीतर रोकने से होता है।

ये चार प्राणायाम इस प्रकार से होते हैं कि जब भीतर से बाहर को प्रश्वास निकले, तब उसको बाहर ही रोक दे। इसको प्रथम प्राणायाम कहते हैं। जब बाहर से श्वास भीतर को आवे, तब उसको जितना रोक सके उतना भीतर ही रोक दे, इसको दूसरा प्राणायाम कहते हैं। तीसरा स्तम्भवृत्ति है कि न प्राण को बाहर

निकाले न बाहर से भीतर ले जाये, किन्तु जितनी देर सुख से हो सके उसको जहां का तहां ज्यों का त्यों एक दम रोक दे, और चौथा यह है कि श्वास भीतर से बाहर को आवे, तब बाहर ही कुछ कुछ रोकता रहे और जब बाहर से भीतर जावे तब उसको भीतर ही थोड़ा थोड़ा रोकता रहे, इसको बाह्या-भ्यन्तराक्षेपी कहते हैं। इन चारों का अनुष्ठान इस लिये है कि जिससे चित्त निर्मल होकर उपासना में स्थिर रहें॥

४४. ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ॥ १। २। ५२॥

इस प्रकार प्राणायामपूर्वक उपासना करने से आत्मा के ज्ञान का आवरण अर्थात् ढांकने वाला जो अज्ञान है, वह नित्यप्रति नष्ट हो जाता है और ज्ञान का प्रकाश धीरे धीरे बढ़ता जाता है॥

उस अभ्यास से यह भी फल होता है कि—

४५. धारणासु च योग्यता मनसः ॥१। २। ५३॥

परमेश्वर के बीच में मन और आत्मा की धारणा होने से मोक्ष पर्यन्त उपासना योग और ज्ञान की योग्यता बढ़ती जाती है तथा उससे व्यवहार और परमार्थ का

विवेक भी बढ़ता रहता है। इसी प्रकार प्राणायाम करने से भी जान लेना।

प्रत्याहार किसे कहते हैं—

४६. स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ॥ १ । २ । ५४ ॥

प्रत्याहार उसका नाम है कि जब पुरुष अपने मन को जीत लेता है, तब इन्द्रियों का जीतना अपने आप हो जाता है। क्योंकि मन ही इन्द्रियों का चलाने वाला है।

४७. ततः परमावश्यतेन्द्रियाणाम् ॥ १ । २ । ५५ ॥

तब वह मनुष्य जितेन्द्रिय हो के जहां अपने मन को ठहराना व चलाना चाहे उसी में ठहरा और चला सकता है, फिर उसको ज्ञान हो जाने से सदा सत्य में ही प्रीति हो जाती है, असत्य में कभी नहीं।

४८. देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ॥ १ । ३ । १ ॥

जब उपासना-योग के पूर्वोक्त पांचों अंग सिद्ध हो जाते हैं, तब उसका छठा अंग धारणा भी यथावत् प्राप्त होती है।

धारणा उसको कहते हैं कि मन को चञ्चलता से छुड़ा के नाभि, हृदय, मस्तक, नासिका और जीभ के अग्रभाग आदि देशों में स्थिर करके ओंकार का जप और उसका अर्थ जो परमेश्वर है, उसका विचार करना।

४९. तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ॥ १ । ३ । २॥

धारणा के पीछे उसी देश में ध्यान करने और आश्रय लेने योग्य जो अन्तर्यामी व्यापक परमेश्वर है, उसके प्रकाश और आनन्द में अत्यन्त विचार और प्रेम भक्ति के साथ इस प्रकार प्रवेश करना कि जैसे समुद्र के बीच में नदी प्रवेश करती है। उस समय में ईश्वर को छोड़ किसी अन्य पदार्थ का स्मरण नहीं करना, किन्तु उसी अन्तर्यामी के स्वरूप और ज्ञान में मग्न हो जाना, इसी का नाम ध्यान है। इन सात अंगों का फल समाधि है।

५०. तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ॥ १ । ३ । ३ ॥

जैसे अग्नि के बीच में लोहा भी अग्निरूप हो जाता है इसी प्रकार परमेश्वर के ज्ञान में प्रकाशमय होके अपने शरीर को भी भूले हुए के समान जान के आत्मा

को परमेश्वर के प्रकाश स्वरूप आनन्द और ज्ञान से परिपूर्ण करने को समाधि कहते हैं।

ध्यान और समाधि में इतना भेद है कि ध्यान में तो ध्यान करने वाला जिस मन से जिस चीज़ का ध्यान करता है वे तीनों विद्यमान रहते हैं। परन्तु समाधि में केवल परमेश्वर ही के आनन्द स्वरूप ज्ञान में आत्मा मग्न हो जाता है। वहां तीनों का भेद-भाव नहीं रहता। जैसे मनुष्य जल में डुबकी मार के थोड़ा समय भीतर ही रुका रहता है, वैसे ही जीवात्मा परमेश्वर के बीच मग्न हो के फिर बाहर को आ जाता है।

५१. त्रयमेकत्र संयमः ॥ १ । ३ । ४ ॥

जिस देश में धारणा की जाये, उसी में ध्यान और उसी में समाधि अर्थात् ध्यान करने के योग्य परमेश्वर में मग्न हो जाने को संयम कहते हैं। जो एक ही काल में तीनों का मेल होना है अर्थात् धारणा से संयुक्त ध्यान और ध्यान से संयुक्त समाधि होती है। उन में बहुत सूक्ष्म काल का भेद रहता है, परन्तु जब समाधि होती है, तब आनन्द के बीच में तीनों का फल एक ही हो जाता है॥

(ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका उपासनाप्रकरण) ॥

श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट अमृतसर का
ग्रन्थ प्रकाशन

१—सन्ध्योपासनविधि—ऋषि दयानन्दकृत भाषार्थ, दैनिक हवन और भजनों के सहित। तीन लाख पांच हज़ार छप चुकी है। घटाया हुआ मूल्य -)॥

२—व्यवहारभानु—ऋषि दयानन्द कृत। बालकों को व्यवहार की उचित शिक्षा देनेवाला अपूर्व ग्रन्थ। मूल्य।)

३—ऋषि दयानन्द सरस्वती का स्वलिखित और स्वकथित आत्मचरित्र— मूल्य॥)

४—हवन मन्त्र—प्रार्थना, स्वस्तिवाचन, शान्तिप्रकरण, बृहद् हवन और भजनों से युक्त। मूल्य -)

५—आर्याभिविनय—ऋषि दयानन्दकृत (प्रथम और द्वितीय संस्करण से मिलाकर अत्यन्त शुद्ध और सुन्दर छापा गया है। संदिग्ध स्थलों पर टिप्पणियाँ दी गई हैं) नया सं० मूल्य १)

६—आर्योद्देश्यरत्नमाला—ऋषि दयानन्दकृत। शुद्ध, सुन्दर, तथा सटिप्पण संस्करण। मूल्य -)

७—पञ्चमहायज्ञविधि—ऋषि दयानन्दकृत। मूल्य =)

८—उरुज्योति अर्थात् वैदिक अध्यात्म सुधा—श्री डा० वासुदेवशरणजी अग्रवाल लिखित। वैदिक अध्यात्मविषयक उच्चकोटि का श्रेष्ठ ग्रन्थ। कागज़ छपाई श्रेष्ठ और सुन्दर।
मूल्य सजिल्द ३)

९—ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास—युधिष्ठिर मीमांसककृत—सजिल्द। बढ़िया संस्करण घटाया हुआ मूल्य४)
साधारण संस्करण ३)

१०—ऋग्वेद भाषाभाष्य प्रथम भाग—पं० युधिष्ठिर मीमांसक कृत हिन्दी अनुवाद सहित मूल्य २॥)

११—अष्टाध्यायी सूत्रपाठ (मूलमात्र) मूल्य ॥=)

१२—ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन—ऋषि दयानन्द जैसे महापुरुष के पत्र और विज्ञापन कितने महत्त्वपूर्ण होंगे, यह बात साधारण सा व्यक्ति भी समझ सकता है। श्री पं० भगवद्दत्त जी और उनके सहयोगी स्वर्गीय श्री महाशय मामराज जी ने महान् प्रयत्न और व्यय करके ५०० पत्र संगृहीत किये थे, जिसे ट्रस्ट ने सन् १९४६ में छपवाया था, जो लाहौर में नष्ट हो गया। अब पुनः उसका परिवर्धित संस्करण, जिसमें लगभग ३५० नये पत्र, विज्ञापन तथा उनकी सूचनाएँ और अनेक परिशिष्ट जोड़े गये हैं, ट्रस्ट ने छपवाया है। ग्रन्थ छपकर तैयारहै। मूल्य ७)

वेदवाणी के ग्राहकों के लिये मूल्य ६)

१—यजुर्वेद-भाष्य विवरण सहित

ऋषि दयानन्द के यजुर्वेद भाष्य पर उसकी पुष्टि में श्री पं० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु ने अनेक वर्षों के निरन्तर परिश्रम से विवरण लिखा है। इसका १० अध्याय का एक भाग सन् १९४६ के अन्त में लाहौर से प्रकाशित हुआ था, परन्तु देश-विभाजन के समय १३ अगस्त १९४७ को ट्रस्ट के सम्पूर्ण स्टाक के साथ जला दिया गया। अब उसका पुनःसंस्करण बड़े प्रयत्न से छापा गया है। मू. १६)

२—वैदिक वाङ्मय का इतिहास

श्री पं० भगवद्दत्त जी वैदिक स्कालर विरचित वैदिक वाङ्मय के इतिहास के चारों भागों का परिवर्धित संस्करण-प्रथम भाग छप चुका है। मूल्य १०)

३—क्षीरतरङ्गिणी

पाणिनिमुनिविरचित धातुपाठ की सबसे पुरानी व्याख्या। काशकृत्स्न मुनिविरचित धातुपाठ तथा अन्य समस्त पाणिनीय ग्रन्थों के आधार पर अत्यन्त उपयोगी टिप्पणियों सहित। मू. १२)

वेदवाणी

वैदिक साहित्य, वैदिक धर्म और वैदिक सभ्यता का प्रचार करने वाली एकमात्र उत्कृष्ट मासिक पत्रिका। गत कई वर्षों से प्रतिवर्ष वेदाङ्क नामक वेदसम्बन्धी अनुसन्धानों से पूर्ण विशालकाय विशेषाङ्क प्रकाशित हो रहा है। मूल्य वार्षिक ५) रु०, विदेश से ६) रु०।

❀ओ३म्❀

आर्य समाज के नियम

१—सब सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं, उन सब का आदि मूल परमेश्वर है।

२—ईश्वर सच्चिदानन्द-स्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्त्ता है, उसी की उपासना करनी योग्य है।

३—वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।

४—सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिये।

५—सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहियें।

६—संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।

७—सब से प्रीति-पूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य वर्तना चाहिये।

८—अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिये।

९—प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से सन्तुष्ट न रहना चाहिये, किन्तु सब की उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिये।

१०—सब मनुष्यों को सामाजिक सर्व-हितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिये और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें।